UPA
IMPACT FACTOR
5.473(SJIF)
UPA NATIONAL E-JOURNAL
Interdisciplinary Peer-Reviewed IndexedJournal
ISSN
2455-4375

अथर्व संहिता में वर्णित वास्तु–सौन्दर्य

संतोष कुमार दुबे,
सहायक प्राध्यापक इतिहास
शास० महाविद्यालय बरगवॉ,
जिला सिंगरौली (म०प्र०),

अपर्णा पाण्डेय,
शोधार्थी इतिहास, एवं
डॉ. संतोष सिंह चौहान,
प्राध्यापक एव अध्यक्ष इतिहास विभाग
एस.जी.एस. शास.महाविद्यालय,
सीधी (म.प्र.)

....

अथर्ववेद में उल्लिखित स्थापत्य–विवरण ऋग्वेद में उल्लिखित वास्तु–संदर्भो से मात्र अन्तर इतना ही है कि अर्थवेद में वह अधिक विस्तार एवं विशिष्टीकृत रूप में आया है। इस विवरण से यह भी पुष्टि होती है कि वैदिक सभ्यता मात्र ग्रामीण या कृषि–पशु केन्द्रित ही नहीं, वह नगरीय सभ्यता एवं नागरिक जीवन के सुस्पष्ट प्रमाण भी प्रस्तुत करती है।

प्रारंभिक वैदिक वाङ्मय में वैदिक यज्ञशालाओं का पर्याप्त उल्लेख आया है। ये यज्ञशालाएँ काष्ठ व घास–फूस द्वारा निर्मित होती थीं। इनकी छतें ढालू होती थीं। इनके मध्य में यज्ञवेदियॉ होती थीं जहॉ बैठकर ब्रह्मा, होता, उद्गाता एवं अध्वर्यु यज्ञ–कार्य सम्पादित करते थे, अपने इष्ट देवताओं के प्रति आहुतियॉ अर्पित करते थे पर्सी ब्राउन ने एक ऐसी ही यज्ञ–वेदी का काल्पनिक चित्र अपने ग्रंथ में किया है। इसी तरह वैदिक चिति की चर्चा भी आई है। इस विषय पर द्विजेन्द्रनाथा शुक्ल के निष्कर्ष विचारणीय हैं –

''ऋग्वेदकालीन वास्तु–कला का आभास वैदिक मंत्रों से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में 'त्रिधातु शरणम्' – त्रिभौमिक प्रासाद की इच्छा वासिष्ठजी करते हैं। 'सहस्र द्वार' 'सहस्र स्तंभों' के प्रशालों का तो बहुत बार संकेत है, पुर एवं भवन के विन्यास की परिष्कृत रूपरेखा पर भी बहुत संकेत हैं। उस समय वास्तु–विद्या के सिद्धान्तों का भी प्रचार था, जिसे प्राय: लोग नहीं मानते हैं। ऋग्वेद काल में गृह–निर्माण के अवसर पर जो प्रतिष्ठा–संस्कार या समारोह मंत्रपाठ के साथ किया जाता था, वह सब आज भी होता है। अत: आगे के प्रत्येक वास्तु–शास्त्रीय ग्रंथों में जिस वास्तु–पूजा को वास्तु–निर्माण का आवश्यक अंग माना गया है वह ऋग्वेद काल में होती थी ऐसा ऋग्वेद के मंत्रों को देखने से पता लगता है। ऋग्वेद की असुर–संबंधित सामग्री के परिशीलन में नग्नजित् तथा त्वष्टा (जो आगे चलकर द्राविड़ वास्तु–विद्या के आचार्य माने गये) आदि आचार्यो के संकेत भी मिलते हैं। संक्षेप में वास्तु–पूजा, वास्तु–भूमि चयन, स्तम्भपूजा, द्वार–पूजा आदि के वास्तु–विद्या के प्रारम्भिक सिद्धान्त ऋग्वेद काल में प्रचलित थे, जिससे तत्कालीन वास्तु–विद्या के अस्तित्व सिद्ध हुए हैं।

यदि वैदिक एवं सैंधव सभ्यताएँ अभेद रही हैं तो फिर हमारे पास मोहेनजोदड़ो, हड़प्पा, कालीबंगा, लोथल, कोटा दीजी आदि अनेक सैंधव स्थल तत्कालीन मूर्ति–शिल्प एवं नगर निर्माण को स्पष्ट एवं योजनाबद्ध रूप से प्रमाणित करने हेतु पर्याप्त पुरा–साक्ष्य देते हैं।

ऋग्वेद में नगर–निर्माण विषय अनेक संदर्भ प्राप्त होते हैं। इन्द्र को पुरन्दर (पुरों का विनाशक) की संज्ञा दी गई है। दिवोदास द्वारा अनेक आयसी पुरियों को ध्वस्त करने के संदर्भ प्राप्त होते हैं। वरुण के सहस्रों स्तंभों एवं द्वारों का महल समुद्र में होने का संदर्भ मिलता है। अथर्ववेद में मानव–शरीर की तुलना आठ चक्रों एवं नौ द्वारों वाली अयोध्यापुरी से की गई है। वेदांग, कल्पसूत्र, शुल्व सूत्र आदि में

वेदी–निर्माण की चर्चा में मान, उन्मान व निवेश का उल्लेख आया है तथा प्रासादों के आधार के घटकों के रूप में जगती, गर्भगृह, रचना–आकृतियों का विवरण दिया गया है। ऋग्वेद की वास्तु परम्परा अर्थवेद में अधिक स्पष्टता और व्यापकता से आई है।

अथर्ववेद में वास्तु–शिल्प एवं नगर–निर्माण का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। जहाँ तक शालाओं (आवासों) के निर्माण का प्रश्न है, एक उत्तम गृह की अनेक खूबियाँ अथर्ववेद में दी गई हैं। इसके अनुसार एक उत्तम गृह उपमित (प्रशस्त), प्रतिमित अर्थात् (एक दूसरे से सम्मुख दिशा में साम्य दूसरे शब्दों में क्रास वेन्टीलेटेड), विश्ववारा (हर ओर से खुला) और (नद्धानि वि चृतामसि – प्रत्येक दृष्टि से सुनिर्मित) होना चाहिए। आज के गृह–निर्माताओं के लिये यह वैदिक सीख अत्यन्त ही उपादेय एवं अधुनातन सिद्ध होगी।

गृहों का आन्तरिक परिवेश भी सुव्यवस्थित एवं नियोजित होना चाहिए। गृहों में हवनार्थ अग्निशाला, गृहणियों के आराम, भोजनादि हेतु पृथक् सदन, स्वस्थ अतिथि–गृह तथा आगन्तुकों एवं सज्जनों के बैठने व वार्तालापादि हेतु विशाल कक्ष होना चाहिए। आज के शिल्पज्ञ जब ड्राइंग रूम, बेड रूम, किचन, टॉइलेट आदि का ध्यान रखते हैं, कुछ वैसा ही सैंधव नगर भी तो ऐसी ही तो कहानी कहते हैं।

गृहों के आसपास की भूमि, प्रदूषणहीन ऐसे खुले वातावरण में होनी चाहिए जिसे सूर्य व चन्द्र की किरणें अबाध रूप से स्पर्श करती हों। ऐसी भूमि में शालाएँ (गृह) सुदृढ़ एवं सुनिर्मित होनी चाहिए। कक्षों के मध्य पर्याप्त अवकाश होना तथा उनकी ऊँचाई एवं आकार पर्याप्त सुखदायक होना आवश्यक माना गया था।

गृह ऐसे होने चाहिए कि वह रहने वालों को आरोग्य व ऊर्जा प्रदान करे, शोभन व नियोजित हो, उनमें अन्न, जल व अन्य सामग्री के भण्डार का समुचित व सुरक्षित स्थान हो, वायु व प्रकाश के लिये पर्याप्त गुंजाईश हो। वे सुनिर्मित हो, ऋतुओं के अनुसार अनुकूलता रखते हों, देखने में दर्शनीय एवं प्रशस्त हों। ऐसे गृह क्षैतिज या ऊर्ध्वाकार रूप में द्विपक्ष, चतुष्पक्ष, षट्पक्ष, अष्टपक्ष, दशपक्ष भी बनाने का उल्लेख आया है। स्पष्ट है कि वैदिक वाङ्मय अनेक मंजिलों वाले विशाल भवनों की विद्यमानता की ओर संकेत करता है।

सामान्य वैदिक धारणा यह रही है कि गृहों में या उसके बरामदे, के पास उत्तम पशु–शाला, दुग्ध–शाला, अन्नागार, अग्निहोत्र या साधना कक्ष, शयन–कक्ष, गुप्त कक्ष, प्रसव कक्ष, भण्डार–गृह, यज्ञ–वेदी, कूप या कुण्ड, आतुर कक्ष, वस्त्रालंकार–भण्डार, पात्र–कक्ष, सर्वसाधन सम्पन्न रसोईगृह आदि होना चाहिए। रसोई–घर ऐसे हों जिसमें धान्य, अपूप, सक्तुक, पुराडाश, करम्भ, मासर, दूध या दधि में पकाये खीर, आमिक्षा, सोम आदि खाद्य एवं पेय पदार्थो का निर्माण होना चाहिए तथा इन पदार्थो को परिजन एवं अतिथि–जन को परोसने हेतु भोजन–शाला ही होना चाहिए।

गृहों का निर्माण या सज्जा ही प्रमुख तत्व नहीं होता। अथर्ववेद के अनुसार गृहों का प्रबंध भी सुव्यवस्थित होना चाहिए। निर्मित शालाएँ ऊर्जस्वती (ऊर्जा–प्रदाता) व पयस्वती (जल व पेय–पदार्थो से भरपूर) सुडौल एवं शोभन, विश्वान्न विभ्रती (अन्न से परिपूर्ण) तथा रोग–हीन एवं आरोग्यदायक होनी चाहिए।

अथर्ववेद के सम्यक् अनुशीलन से ज्ञात होता है कि गृह बड़े सुनियोजित एवं विविधतापूर्ण निर्मित होते थे। इनका निर्माण विविध प्रयोजनों के लिये होता था। जो गृह जिस प्रयोजन के लिये निर्मित

होता था, उनका नाम भी उनके अनुरूप ही होता था। गयः (धार्मिक कार्यो का अधिष्ठान), शर्म (युद्ध के समय शरणस्थली), हर्म्यम् (विशाल कोष्ठ या कोष्ठोंयुक्त), छर्दि (अनुपयोगी या त्याज्य वस्तुओं के भण्डारण का स्थल), शरणम् (आश्रय लेने का गृह), कृत्तिः (घरेलू आतुरालय) आदि कुछ नाम इस सम्बन्ध में उद्धृत किये जाने योग्य है।

वैदिक वाङ्मय में गृहों, ग्रामों, पशु—शालाओं और नगरों के निर्माण, नियोजन एवं बाह्य एवं आन्तरिक सज्जा विषयक इन संदर्भो के होते हुए भी देश—विदेश के अनेक विद्वान वैदिक सभ्यता को पशु—पालकों और ग्रामीण कृषकों की सभ्यता ही मानते रहे हैं। उनके इस दुराग्रह से मुक्त होने का अब समय आ गया है। वैदकि वाङ्मय का गहराई से अध्ययन एवं उसमें वर्णित वास्तु—शिल्प का सम्यक् अनुशीलन करना अत्यन्त समीचीन होगा, तब लगेगा कि ऋग्वेद में जिस आर्य सभ्यता का उल्लेख आया है, उसी की परम्परा में कालान्तर में अथर्ववेद वर्णित वास्तु—प्रमाणों का निरीक्षण करना होगा। तब यह कथन अन्यथा नहीं होगा कि प्रारंभिक आर्य—सभ्यता ही समय के विविध सोपानों को पार करती हुई सैंधव नगरों के रूप में क्रमशः प्राक्—हड़प्पा एवं हड़प्पा संस्कृतियों के द्वारा हमारे लिये छोड़े गये दसियों पुरा—प्रमाणों के साथ विकसित हुई होगी। वैदिक एवं सैंधव सभ्यताओं का विवेचन गाय, अश्व या वृषभ अथवा धान्य व गोधूम के रूढ़ हुए विवादास्पद विवेचन से पृथक् कर वास्तु—शिल्प व अन्य आधारों पर भी विवेचित करना होगा। यह केवल तथ्यान्वेषण ही नहीं, सत्यान्वेषण भी होगा।

संदर्भ —

१. ब्राउन, पर्सी, इण्डियन आर्किटेक्चर, व्हा. १, अध्याय १
२. शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ, भारतीय स्थापत्य, पृ. ३१, २३९
३. ऋग्वेद, ४.४२,८—९, ९.३,१
४. अथर्ववेद ९.३,१; ९.३,७; ९.३.,१९; ९.३.,२१; ९.३.,१६
५. द वैदिक एज, पृ. २५०, ३६८
६. वेदाश्रमी, श्री वीरसेन, वैदिक सम्पदा, पृ. १३८—४१